

हिंदुस्तान फॉरेस्ट कंपनी

बनाम

लाल चंद एवं अन्य

**(एस. आर. दास, सी.जे., एस. के. दास, ए. के. सरकार,
के. एन. वांचू और एम. हिदायतुल्लाह, जे.जे.)**

लिमिटेड-म्यूचुअल अकाउंट--पारस्परिक मांगें-माल की सप्लाई के लिए कॉन्ट्रैक्ट-माल की डिलीवरी और पेमेंट, चाहे अलग-अलग जिम्मेदारियां हों-जम्मू और कश्मीर लिमिटेड एक्ट, 1995 (जम्मू और कश्मीर IX/1995), आर्टिकल 115-इंडियन लिमिटेड एक्ट, 1908 (9/1908), आर्टिकल 85

सामान बेचने के एक कॉन्ट्रैक्ट के तहत, खरीदार ने सप्लाई किए जाने वाले सामान की कीमत के लिए एडवांस अमाउंट दिया और उसके बाद सेलर्स ने अलग-अलग क्वांटिटी में सामान डिलीवर किया। सामान डिलीवर होने के बाद खरीदार ने समय-समय पर उसकी कीमत के लिए कई दूसरे पेमेंट भी किए। सामान की आखिरी डिलीवरी 23 जून, 1947 को हुई थी, और सेलर्स ने डिलीवर किए गए सामान की बाकी कीमत के लिए 10 अक्टूबर, 1950 को केस किया। सेलर्स ने दलील दी कि केस समय के अंदर था और उन्होंने जम्मू और कश्मीर लिमिटेड एक्ट के आर्टिकल 115 पर भरोसा किया, जिसके तहत "म्यूचुअल, ओपन और करंट अकाउंट पर बाकी रकम के लिए" केस के लिए लिमिटेड का समय छह साल था, जहाँ पार्टियों के बीच आपसी डिमांड रही हों।

अभिनिर्धारित - अनुच्छेद 115 इस मामले पर लागू नहीं होता था, क्योंकि इसमें आपसी माँगों पर आधारित कोई 'म्यूचुअल अकाउंट' नहीं था। खरीदार द्वारा माल की डिलीवरी मिलने के बाद किया गया भुगतान, उन डिलीवरी के बदले में बकाया कीमत चुकाने की अपनी ज़िम्मेदारी को पूरा करने के लिए किया गया था; जबकि अग्रिम रूप से चुकाई गई राशि, अनुबंध के तहत भविष्य में उत्पन्न होने वाली ज़िम्मेदारियों को पूरा करने के लिए दी गई थी—इनमें से किसी भी भुगतान ने विक्रेताओं पर खरीदार के प्रति कोई स्वतंत्र ज़िम्मेदारी उत्पन्न नहीं की।

टी फाइनेंसिंग सिंडिकेट लिमिटेड बनाम चंद्रकमल बाजबरुआ, (1930) आई.एल.आर. 58 कलकत्ता 649, स्वीकृत

सिविल अपीलिय क्षेत्राधिकार: सिविल अपील सं. 161/1955.

जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय के दिनांक 4 ज्येष्ठ 2011 के निर्णय और डिक्री (अपील संख्या 1/2009) के विरुद्ध अपील; जो उक्त उच्च न्यायालय के दिनांक 2 माघ 2008 के निर्णय और डिक्री (मूल वाद संख्या 40/2007) से उत्पन्न हुई है।

अपीलकर्ता की ओर से अधिवक्तागण - एस.के. कपूर और एन.एच. हिंगोरानी।

उत्तरदाताओं की ओर से अधिवक्तागण - भवानी लाल और के. पी. गुप्ता ।

19 अगस्त 1959, न्यायालय द्वारा निर्णय सुनाया गया।

सरकार जे.-यह अपील जम्मू और कश्मीर के हाई कोर्ट में दायर एक मुकदमे से जुड़ी है, जो बेचे और डिलीवर किए गए सामान की कीमत वसूलने के लिए दायर किया गया था। इसमें शामिल एकमात्र मुद्दा यह है कि क्या यह मुकदमा जम्मू और कश्मीर लिमिटेड एक्ट के अनुच्छेद 115 के तहत आता था। निचली अदालतों ने यह फैसला दिया है—और इस अपील में इस पर कोई विवाद नहीं है—कि यदि वह अनुच्छेद लागू नहीं होता, तो यह मुकदमा समय-सीमा के आधार पर खारिज हो जाता। नवंबर 1946 में किसी समय, दोनों पक्षों के बीच एक लिखित समझौता हुआ, जिसके तहत विक्रेताओं (जो इस मामले में प्रतिवादी हैं) को खरीदार (जो इस मामले में अपीलकर्ता है) को 5,000 मन मक्का, 500 मन गेहूं और 100 मन दाल, तय दरों और समय पर सप्लाई करनी थी। समझौते में यह कहा गया था कि जिस तारीख को यह समझौता हुआ, उस दिन खरीदार ने विक्रेताओं को 3,000 रुपये का भुगतान कर दिया था, और उसने दस या बारह दिनों के भीतर 10,000 रुपये की अतिरिक्त राशि अग्रिम के रूप में देने पर सहमति जताई थी; साथ ही, डिलीवर किए गए सामान की कीमत के रूप में बकाया शेष राशि का भुगतान हर महीने के अंत में करने पर भी सहमति दी थी। यह स्वीकार किया गया है कि उक्त 10,000 रुपये की राशि बाद में खरीदार द्वारा विक्रेताओं को अदा कर दी गई थी।

इसके बाद विक्रेताओं द्वारा खरीदार को अलग-अलग मात्रा में माल की डिलीवरी की गई; हालाँकि ये डिलीवरी अनुबंध में तय समय पर ठीक-ठीक नहीं की गई थीं, फिर भी खरीदार ने इन्हें स्वीकार कर लिया था। खरीदार ने बदले में डिलीवर किए गए माल की कीमत के लिए अलग-अलग भुगतान किए, लेकिन ये भुगतान महीने-दर-महीने नहीं किए गए थे, और न ही उसने पूरी कीमत का भुगतान किया था। माल की अंतिम डिलीवरी 23 जून, 1947 को की गई थी, और बकाया कीमत की शेष राशि के लिए 10 अक्टूबर, 1950 को मुकदमा दायर किया गया था।

हाई कोर्ट के विद्वान न्यायाधीश, जिन्होंने इस मुकदमे की सुनवाई की थी, ने यह फैसला दिया कि अनुच्छेद 115 यहाँ लागू नहीं होता और उन्होंने इस मुकदमे को समय-सीमा (limitation) के कारण खारिज कर दिया। विक्रेताओं ने इसके खिलाफ अपील की, जिसकी सुनवाई हाई कोर्ट के दो अन्य विद्वान न्यायाधीशों ने की। हाई कोर्ट की अपीलीय पीठ के विद्वान न्यायाधीशों ने यह फैसला दिया कि जम्मू-कश्मीर समय-सीमा अधिनियम का अनुच्छेद 115 यहाँ लागू होता है और यह मुकदमा समय-सीमा के कारण बाधित नहीं है। इसके बाद उन्होंने अपील स्वीकार कर ली और विक्रेताओं के पक्ष में एक डिक्री पारित कर दी। अब खरीदार ने इस कोर्ट में अपील की है।

जम्मू और कश्मीर परिसीमा अधिनियम का अनुच्छेद 115, जो भारतीय परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 85 के ही समान है (सिवाय परिसीमा की अवधि के), नीचे दिया गया है:

वाद का विवरण	परिसीमा काल	अवधि की गणना प्रारंभ होने का समय
पारस्परिक, खुले और चालू खाते में शोधय अतिशेष के लिए, जहाँ पक्षकारों के बीच परस्पर माँगें रही हों।	छह वर्ष।	जिस वर्ष में अंतिम मद स्वीकार या सिद्ध की गई हो और खाते में दर्ज की गई हो, उस वर्ष की समाप्ति की गणना खाते में दर्शाए अनुसार की जाएगी।

यदि यह अनुच्छेद लागू होता, तो मुकदमा स्पष्ट रूप से समय-सीमा के भीतर होता, क्योंकि खाते में दर्ज पाया गया अंतिम मद 23 जून, 1947 का था। अदालत में बहस का एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या पक्षों के बीच का खाता पारस्परिक था।

यह सवाल कि 'म्यूचुअल अकाउंट' (पारस्परिक खाता) क्या है, अदालतों द्वारा अक्सर विचाराधीन रहा है और इसे तय करने का पैमाना (test) अब अच्छी तरह से स्थापित हो चुका है। इस संदर्भ में 'टी फाइनेंसिंग सिंडिकेट लिमिटेड बनाम चंद्रकमल बेज़बरुआ'¹ मामले का

¹(1930) I.L.R. 58 कलकत्ता 649.

हवाला दिया जा सकता है। उस मामले में, एक कंपनी एक चाय बागान के मालिक को ऋण के रूप में पैसे उधार दे रही थी, और मालिक कंपनी को चाय भेज रहा था ताकि उसकी बिक्री से प्राप्त कीमत का समायोजन (realisation) किया जा सके। चाय की बिक्री से प्राप्त कीमत को जमा (credit) करने के बाद, दी गई अग्रिम राशि के शेष भाग की वसूली के लिए कंपनी द्वारा चाय बागान के मालिक के खिलाफ दायर एक मुकदमे में, यह सवाल उठा कि क्या यह मामला 'पारस्परिक मांगों' (reciprocal demands) का था—जिसके परिणामस्वरूप दोनों पक्षों के बीच का खाता 'म्यूचुअल' माना जाए—ताकि यह 'भारतीय परिसीमा अधिनियम' के अनुच्छेद 85 के अंतर्गत शासित हो सके। मुख्य न्यायाधीश रैंकिन ने पृष्ठ 668 पर, इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए अपनाए जाने वाले पैमाने को इन शब्दों में निर्धारित किया:

- I. मुझे लगता है कि इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि आपसी मांगों की शर्त में—जैसा कि हॉलोवे, ए.सी.जे. के फ़ैसले का पालन करते हुए सभी भारतीय मामलों में तय किया गया है—दोनों पक्षों के बीच ऐसे लेन-देन शामिल होते हैं जो एक-दूसरे पर स्वतंत्र दायित्व पैदा करते हैं; इसमें वे लेन-देन शामिल नहीं हैं जो केवल एक पक्ष पर दायित्व पैदा करते हैं, और दूसरे पक्ष के लेन-देन केवल उन दायित्वों को पूरी तरह या आंशिक रूप से चुकाने के लिए होते हैं। यह भी साफ़ है कि भुगतान के तौर पर सामान के साथ-साथ पैसे भी भेजे जा सकते हैं। इसलिए हमें यह देखना होगा कि क्या इस दस्तावेज़ के तहत, प्रतिवादी द्वारा वादी को बेचने के लिए भेजी गई चाय, केवल प्रतिवादी का कर्ज़ चुकाने के लिए भेजी गई थी, या फिर इसे ऐसे लेन-देन के क्रम में भेजा गया था जिसका मकसद बेची गई चाय के मालिक के तौर पर प्रतिवादी के लिए एक क्रेडिट (जमा) बनाना था—और यह क्रेडिट जब खाते में दर्ज किया जाता, तो वह 'सेट-ऑफ़' (आपसी हिसाब-किताब) के तौर पर काम करके प्रतिवादी के दायित्व को कम कर देता।

मुख्य न्यायाधीश रैंकिन की इस टिप्पणी से हमारे न्यायालयों में कभी भी असहमति व्यक्त नहीं की गई है, और हमारा मानना है कि यह विधि का सही प्रतिपादन करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय की अपीलीय पीठ के विद्वान न्यायाधीशों ने भी उसी कसौटी को लागू किया है, जिसे मुख्य न्यायाधीश रैंकिन ने निर्धारित किया था। तथापि, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पक्षों के बीच का खाता (अकाउंट) निम्नलिखित कारणों से 'पारस्परिक' था:

- II. "तो बात बस इतनी रह जाती है कि प्रतिवादी कंपनी ने अनाज की सप्लाई के लिए वादियों को एक निश्चित रकम एडवांस में दी थी। इससे वादियों को हर महीने पेमेंट किए जाने का सवाल खत्म हो जाता है। वादियों को एक निश्चित रकम मिलने के बाद,

वे उस हद तक प्रतिवादी कंपनी के कर्जदार बन गए, और जब सप्लाई 13,000/- रुपये से ज्यादा हो गई, तो प्रतिवादी कंपनी वादी की कर्जदार बन गई; और बाद में, जब फिर से वादी की सप्लाई उन्हें दी गई रकम से ज्यादा हो गई, तो प्रतिवादी फिर से कर्जदार बन गए। इससे यह पता चलता है कि दोनों तरफ से लेन-देन और सौदों में आपसी तालमेल था, जिससे एक-दूसरे पर स्वतंत्र जिम्मेदारियाँ बनती थीं।"

यह तर्क स्पष्ट रूप से गलत है। माननीय न्यायाधीशों द्वारा बताए गए तथ्यों के आधार पर, लेन-देन में कोई आपसी तालमेल (reciprocity) नहीं था; कोई स्वतंत्र दायित्व भी नहीं थे। असल में हुआ यह था कि विक्रेताओं ने माल की डिलीवरी करने का जिम्मा लिया था, और खरीदार ने उसके लिए भुगतान करने की सहमति दी थी, तथा कुछ भुगतान अग्रिम रूप से भी कर दिया था। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि जहाँ तक माल की डिलीवरी के बाद किए गए भुगतानों का सवाल है, वे बकाया कीमत के भुगतान के रूप में ही किए गए थे। ऐसे भुगतान, खरीदार पर माल की डिलीवरी के कारण उत्पन्न हुए उस दायित्व को पूरा करने के लिए थे, जिसके तहत उसे प्राप्त माल की कीमत चुकानी थी; और इन भुगतानों से विक्रेताओं पर खरीदार के पक्ष में कोई नया दायित्व उत्पन्न नहीं हुआ। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि माननीय न्यायाधीशों ने इन भुगतानों के परिणाम के संबंध में कोई विपरीत दृष्टिकोण अपनाया हो।

हालांकि, विद्वान न्यायाधीशों ने यह माना कि खरीदार द्वारा डिलीवरी शुरू होने से पहले 13,000 रुपये का अग्रिम भुगतान करने से, विक्रेता खरीदार के ऋणी बन गए थे और इससे विक्रेताओं पर खरीदार के पक्ष में एक दायित्व उत्पन्न हो गया था। ज़ाहिर तौर पर यही वह कारण था जिसके चलते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यहाँ परस्पर माँगें थीं और इन लेन-देनों ने दोनों पक्षों पर स्वतंत्र दायित्व उत्पन्न कर दिए थे। यह दृष्टिकोण निराधार है। 13,000 रुपये की राशि, डिलीवर की जाने वाली वस्तुओं की कीमत के अग्रिम भुगतान के तौर पर दी गई थी। यह अनुबंध के तहत उत्पन्न होने वाले दायित्वों के निर्वहन के लिए चुकाई गई थी। यह अनुबंध की उन शर्तों के तहत चुकाई गई थी जिनके अनुसार वस्तुएँ खरीदनी थीं और उनके लिए भुगतान करना था। इसने अपने आप में विक्रेताओं पर खरीदार के पक्ष में कोई दायित्व उत्पन्न नहीं किया; इसका उद्देश्य ऐसा करना नहीं था, और न ही यह अनुबंध के शेष भाग से अलग कोई स्वतंत्र लेन-देन माना जा सकता था। विक्रेताओं पर वस्तुओं की डिलीवरी करने का दायित्व था, लेकिन वह दायित्व अनुबंध से उत्पन्न हुआ था, न कि केवल अग्रिम भुगतान करने से। यदि विक्रेता वस्तुओं की डिलीवरी करने में विफल रहते, तो वे कीमत के मद

में दी गई अग्रिम राशि वापस करने के लिए उत्तरदायी होते, और संभवतः हर्जाने के लिए भी उत्तरदायी हो सकते थे; लेकिन ऐसी स्थिति में भी, यह दायित्व अनुबंध से ही उत्पन्न होता, न कि केवल अग्रिम भुगतान किए जाने के तथ्य से। ऐसी विफलता की स्थिति को छोड़कर, खरीदार अग्रिम रूप से चुकाई गई राशि को वापस प्राप्त नहीं कर सकता था। हालाँकि, विक्रेताओं की ओर से वस्तुओं की डिलीवरी में किसी भी प्रकार की चूक के संबंध में कोई प्रश्न नहीं उठाया गया है। इसलिए, इस मामले में माँगों की कोई परस्परता (reciprocity) शामिल नहीं थी। जम्मू और कश्मीर परिसीमा अधिनियम (Limitation Act) का अनुच्छेद 115 इस वाद पर लागू नहीं किया जा सकता।

माननीय न्यायाधीशों ने भी संभवतः यह राय अपनाई है कि, चूंकि माल की डिलीवरी अनुबंध में तय समय पर नहीं की गई थी और महीनों के अंत में देय कीमतें भी नहीं चुकाई गई थीं, इसलिए पक्षों ने स्पष्ट रूप से यह संकेत दिया कि वे अनुबंध का पालन नहीं करना चाहते। हम इस राय से सहमत नहीं हो सकते। इस तरह का आचरण केवल यही दर्शाता है कि पक्षों ने माल की डिलीवरी और कीमत के भुगतान के लिए अनुबंध के तहत तय समय-सीमा को आगे बढ़ा दिया था, जबकि अनुबंध पर अन्यथा कोई प्रभाव नहीं पड़ने दिया।

माननीय न्यायाधीशों ने यह भी टिप्पणी की कि अनुबंध में यह स्पष्ट नहीं किया गया था कि दी गई अग्रिम राशि का समायोजन किस प्रकार किया जाना है। परंतु यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब अनुबंध में यह प्रावधान था कि अग्रिम राशि उस मूल्य के मद में दी गई है जो भविष्य में देय होगा—जैसा कि स्वयं माननीय न्यायाधीशों ने भी माना है—तो इसका अनिवार्य निहितार्थ यही निकलता है कि जब वह मूल्य देय हो जाए, तब उस अग्रिम राशि का समायोजन उस मूल्य के विरुद्ध किया जाना चाहिए। अतः, अनुबंध में अग्रिम राशि के समायोजन हेतु एक प्रावधान विद्यमान था।

हमें यह कहना भी उचित लगता है कि यह कुछ अजीब बात है कि अनुच्छेद 115 के लागू होने के संबंध में कोई भी प्रश्न उठाने की अनुमति दी गई। उस अनुच्छेद की प्रयोज्यता विशेष तथ्यों पर निर्भर करती है। वाद-पत्र में ऐसे कोई तथ्य दिखाई नहीं देते। उसमें इस बात का कोई संकेत नहीं है कि खाता आपसी था। हमें पूरा विश्वास है कि यदि हाई कोर्ट के विद्वान

न्यायाधीशों का ध्यान इस मामले के इस पहलू की ओर दिलाया गया होता, तो वे अनुच्छेद 115 के संबंध में कोई भी प्रश्न उठाने की अनुमति नहीं देते, और इससे पक्षों का काफी खर्च बच जाता।

इसलिए, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपील स्वीकार की जानी चाहिए। हाई कोर्ट की अपीलीय बेंच के माननीय जजों का फैसला और आदेश रद्द किया जाता है, और हाई कोर्ट के माननीय सिंगल जज का फैसला बहाल किया जाता है। अपीलकर्ता इस कोर्ट में हुए खर्चों और हाई कोर्ट में अपील की सुनवाई के खर्चों का हकदार होगा।

अपील स्वीकार की गई।

यह अनुवाद सुश्री लीना मुखर्जी, पैनल अनुवादक के द्वारा किया गया।